International Journal of Sanskrit Research 2015; 1(4): 39-41

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2015; 1(4): 39-41
© 2015 IJSR
www.sanskritjournal.com
Received: 01-04-2015
Accepted: 01-05-2015

बिपिन चन्द्र शर्मा
शोधच्छात्र संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Correspondence
बिपिन चन्द्र शर्मा
शोध्च्छात्र संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

योगरत्नाकर में नित्यप्रवृत्तिप्रकार ;दैनिक क्रियाएँ : एक अध्ययन

बिपिन चन्द्र शर्मा

प्रस्तावना

संस्कृत वाङ्मय विविध प्रकार के ज्ञानपुञ्जों का प्रमुख स्रोत है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने लोकहित की कामना को ध्यान में रखकर अपने ग्रन्थों में लोकोपकारक उपदेशों का व्याख्यान किया है। आयुर्वेद की उत्तरवर्ती परम्परा में एक ऐसा अद्भुत ग्रन्थरत्न उपलब्ध होता है जिसके लेखक ने लोक कल्याण की भावना से ओतप्रोत होकर एक बहुमूल्य ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'योगरत्नाकर' नाम से जाना जाता है। इस ग्रन्थ के लेखक की महानता का परिचय इससे ही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त उसने कहीं भी अपना परिचय नाम नहीं दिया। ऐसे महान लेखकों के विषय में इतिहास मौन है किन्तु उनका योगदान ही यथार्थ में प्रशंसनीय व लोकोपकारक प्रतीत होता है। 'योगरत्नाकर' नामक इस ग्रन्थ के लेखक का नाममात्र भी इतिहास में उपलब्ध नहीं है। पुनः लेखक के काल का निर्धारण भी अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। विस्तृत रूप में रोगों की चर्चा तथा रोगों को दूर करने के अनेक उपाय ग्रन्थकार ने व्याख्यायित किये हैं।

प्रस्तुत शोध–पत्र में ग्रन्थकार ने नित्य कर्मों ;कार्यों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक समय में बढ़ते रोगों को ध्यान में रखकर यह शोध–पत्र प्रस्तुत किया गया है जिससे अवश्य ही रोगों के निवारण में यह सहायक सिद्ध होगा। ग्रन्थ का प्रारम्भ ग्रन्थकार ने विष्णु, ब्रह्मा आदि की स्तुति[1] से किया है तथा सांसारिक प्राणिजनों के कल्याण को ग्रन्थ लेखन का उद्देश्य स्वीकार किया है। प्रस्तुत–पत्रा शोध में नित्य–प्रवृत्तियों तथा उनके प्रकारों का विवेचन किया गया है। यह विवेचन लेखक ने 259 श्लोकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। स्वस्थ रहने के कारणों तथा स्वस्थता का लक्षण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने शयनान्तर से रात्रि के पूर्व काल तक विहित कर्मों के विषय में व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकार[2] कहता है कि–

दिनचर्या, रात्रिचर्या तथा ऋतुचर्या का पालन करने वाला मनुष्य सर्वदा स्वस्थ रहता है। दिनचर्या, रात्रिाचर्या आदि का पालन न करने वाला अस्वस्थ ही रहता है। स्वस्थता के लक्षण के विषय में लेखक[3] का मत है कि जिस पुरुष ;स्त्री–पुरुष में वात–पित्त–कप, जठराग्नि तथा रसादि धातु व मल–मूत्रादि सम मात्राा में होते हैं तथा इनकी उचित क्रियाएँ होती हैं तथा जो इन्द्रिय, मन व आत्मा से प्रसन्नचित्त रहता है वह स्वस्थ कहा जाता है। आधुनिक जगत् में इस लक्षण के आधर पर स्वस्थता की पहचान करना सुगम हो जाता है। मात्रा बाह्य रूप से प्रसन्न दिखने वाला स्वस्थ नहीं अपितु मन से भी प्रसन्न रहने वाला स्वस्थ सिद्ध होता है।

मनुष्य अपनी आयु की रक्षा किस प्रकार करे? इस विषय में ग्रन्थकार[4] ने ब्रह्ममूहूर्त में उठने का विधान कर मानसिक रोगों के निवारण हेतु मधुसूदन ;विष्णु के स्मरण का उपदेश किया है। मधुसूदन ;भगवान के स्मरण का तात्पर्य यह हो सकता है कि मनुष्य अपने दैशिक व कालिक परिस्थिति व आस्था के अनुसार सर्वोच्च शक्ति का ध्यान करेगा तो अवश्य ही अहंकार आदि दुर्गुणों से दूर होकर मनुष्य निर्मल चित्त वाला हो सकेगा। अहंकार आदि से निर्लिप्तता निश्चय ही मानसिक रोगों को दूर करने वाली सिद्ध होगी। तदुपरान्त लेखक ने मल विसर्जन फल[5], मलवेग के अविरुद्ध करने पर उत्पन्न होने वाले उपद्रवों[6] का वर्णन किया है। मल, मूत्र, वात आदि को रोकने से ग्रन्थकार ने अनेक रोगों ;मानसिक थकावट, उदर पीड़ा, शिर–पीड़ा, वक्ष–प्रदेश में वायु भरना, मुख से पुरीष का निकलना के उत्पन्न होने की आशंका व्यक्त की है। अतः मल, मूत्राादि को अवरुद्ध करना निश्चय ही रोगों का कारण सिद्ध होता है। अतः यह त्याज्य है।

पाणि–पाद के प्रक्षालन के विषय में लेखक[7] का विचार है कि पाणि–पाद का प्रक्षालन मात्रा शुद्धता का कारण नहीं अपितु इससे शारीरिक थकावट का दूर होना सिद्ध होता है तथा पाणि–पाद का प्रक्षालन वीर्यवर्द्धक तथा नेत्रों के लिए हितकर है तथा यह भूत–प्रेतादि के आक्रमण को भी अवरुद्ध करता है।

पुनः दन्तधावन–काष्ठ[8] तथा उसकी विधि[9] के सम्बन्ध में लेखक ने व्यापक रूप में विचार किया है। दन्तधावन के काष्ठ का प्रमाण, दन्तधावन के अयोग्य व्यक्तियों के विषय में लेखक ने विचार किया है।

आधुनिक युग में मेडिकल साइंस में दन्तधवन का प्रावधान प्रायः सभी के लिए मान्य है किन्तु योगरत्नाकरकार[10] का मत है कि सिर रोग से पीड़ित, प्यासा, थका हुआ, मानसिक थकावट से ग्रस्त, नेत्र का रोगी, हृदय रोगी, आदि मनुष्यों को दन्तधवन नहीं करना चाहिए। यह निश्चय ही ग्रन्थकार के मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करता है, उक्त रोगियों के विषय में लेखक ने दन्तधवन का क्यों निषेध किया है यह सम्प्रति शोध का विषय हो सकता है।

मुख प्रक्षालन की विधि[11] व गुणों[12] के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का मत है कि शीतल व उष्ण जल से मुख–शोधन करना अनेक रोगों का निवारक है। रक्त पित्तादि रोग यदि हो तो मनुष्य को शीतल जल से मुख प्रक्षालन तथा कफ व वातादि रोगों के निवारण हेतु उष्ण जल से मुख प्रक्षालन करना लाभदायक होता है।

ग्रन्थकार ने दैनिक रूप से होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों पर भी गूढ़ दृष्टि से चिन्तन किया है। नख–केश आदि के काटने की विधि[13], केशपाश प्रसाधन–विधि[14] जैसे विषयों पर ग्रन्थकार का सूक्ष्म चिन्तन वर्तमान युग में उनकी प्रासंगिकता को सिद्ध करता है। व्यायाम[15] के विषय में भी व्यापक रूप में योगरत्नाकर में चिन्तन किया गया है। व्यायाम के निर्देश, गुण, तथा लाभ पर विचार करते हुए कहा गया है कि,

''व्यायाम करना अनेक रोगों के निवारण में सिद्ध होता है। कार्य करने में सामर्थ्य का विकसित होना, जाठराग्नि वृद्धि विरूद्ध व बिना पके हुए भोजन का पाचन, शरीर की झुर्रियों का नाश आदि नित्य व्यायाम के द्वारा उपलब्ध होते हैं।'' वसन्त काल व शीतकाल में व्यायाम का निर्देश किया गया है। व्यायाम को निश्चय ही अनेक रोगों के उपाय के रूप में देखा गया है किन्तु यह सभी के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कास व श्वास के रोगियों, दुर्बलों, क्षय, रक्त–पित्त, क्षत तथा शोष के रोगियों को सर्वदा व्यायाम हेतु निषेध किया गया है। भोजन संभोगादि कार्यों के उपरान्त भी इसका निषेध ज्ञातव्य है। पुनः यथा किसी भी कार्य की अति अनुचित होती है उसी प्रकार इसकी अति होने से कास, ज्वर, वमन, चक्कर, मानसिक थकावट, क्षय रोग, प्रतमक श्वास, तथा रक्त–पित्त आदि के उत्पन्न होने की आशंका जताई गई है। अतः संयमित रूप में अर्ह मनुष्यों को ही यह निरोगी व स्वस्थ करने में सक्षम होता है। व्यायाम के पश्चात अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, मुखलेप के गुणों पर भी विचार किया गया है। तदुपरान्त स्नान के विषय में व्यापक रूप में व्याख्या द्रष्टव्य है।

स्नान[16] मात्र सुन्दरता हेतु ही विधेय नहीं है अपितु अनेक रोगों को भी यह स्नान हर लेता है। स्नान वीर्यवर्द्धक, आयुवर्द्धक, ओज–बल कारक, कण्डू, मल, थकावट, स्वेद, तन्द्रा, प्यास आदि का हरण करता है। स्नान के विषय में एक मौलिक चिन्तन ग्रन्थकार[17] का यह है कि **स्नान में शीतल जल से शरीर सींचने पर उष्मा दबकर अन्दर की ओर गमन करती है, जिससे जाठराग्नि के प्रदीप्त होने का कारण भी बताया गया है।** प्रातः काल के स्नान के दश गुणों पर ग्रन्थकर्ता ने चिन्तन किया है। प्रातःकालिक स्नान को अशुभ स्वप्न के दोष को नष्ट करने वाला, कामाग्नि को उत्तेजित करने वाला, तथा स्त्रियों के काम को बढ़ाने वाला कहा गया है। उष्ण जल से सभी कालों में सिर के उपर से स्नान करने को नेत्रों के लिए अहितकारक माना गया है। लेकिन उष्ण जल से इस प्रकार स्नान करना वात व कफ के प्रकोप में हितकर माना गया है।

स्नान के सम्बन्ध में चर्चा करने के उपरान्त लेखक ने वस्त्र धारण सम्बन्धी नियम, रत्नधारण, देवादि पूजन, तथा स्वाभाविक इच्छाओं के विषय में विचार किया है। आहार के गुणों के विषय में ग्रन्थकार ने सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया है। भोजन–कर्म को करने से पूर्व लेखक[18] ने नमक व अदरक के सेवन को जठराग्नि प्रदीप्ति का कारण, जिह्वा व कण्ठ के शुद्धीकरण का हेतु माना है। भोज्य सामाग्रियों में अनार, अंगूर, सन्तरा आदि के सेवन को भोजन के पूर्व तथा कदली व ककड़ी का सेवन भोजनोपरान्त करने का निर्देश भी दिया है।[19]

ग्रन्थकार[20] ने प्रातः काल में चिरोंजी, जामुन, बेर, कसेरु, गूलर, विषामल, ताड़पफल, अदरक, नारियल, तिलयुक्त पदार्थ, आम, अंकोल फल, केला, व आँवले के फल के सेवन का सर्वदा निषेध किया है। इस प्रकार छः प्रकार के आहार ;चोष्य, पेय, लेह्य, भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य का वर्णन करते हुए भोजन के विषय में व्यापक रूप से चिन्तन किया है।

भोजन–विधि के उपरान्त शयन–विधि[21] का व्यापक विवेचन ग्रन्थ का विषय है। शयनविधि को स्पष्ट करते हुए लेखक कहता है कि दिन का शयन कफ–वर्द्धक है। ग्रीष्म काल में ही मात्र दिन का शयन उचित माना गया है। किन्तु विशेष व्यक्तियों[22] (व्यायाम–कर्ता, संभोग–कर्ता, यानों में यात्राा करने वाले, अतिसार के रोगी, उदर व श्वास रोगी, रात में जागृत तथा उपवास करने वाले) का दिन में शयन उचित व आवश्यक होता है।

तदुपरान्त शयन को पित्त, मर्दन को वात, वमन को कफ व लङ्घन को ज्वर का नाशक माना गया है।[23] एतदतिरिक्त लेखक के द्वारा अन्य कर्मों के विषय में विधि व निषेध का विधान किया गया है।

अन्तिम में ग्रन्थकार[24] ने सन्ध्या काल में वर्जित कर्मों का उल्लेख कर नित्य–प्रवृत्तियों के विषय व प्रकारों का समापन किया है। आहार, मैथुन, शयन, पठन, मार्ग में गमन, पंचकर्मों का संध्याकाल में लेखक द्वारा निषेध किया गया है। क्रमशः इनके करने से रोगोत्पत्ति, गर्भविकृति, दरिद्रता, आयु–ह्रास तथा भय होने का उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार योगरत्नाकरकार ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म दैनिक जीवन के कर्मों की विधियों के सम्बन्ध में एक चिकित्सक, उपदेशक, समाज–सुधारक, शिक्षक आदि सभी दृष्टियों से व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है, ग्रन्थकार सम्मत व उपदिष्ट ये मूलमन्त्र सभी कालों में समसामयिक प्रतीत होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक समय में इनकी आवश्यकता निःसन्देह अनुभूत होती है। अतः कालिक स्थिति व स्वेच्छा के आधार पर उक्त नियमों व विधियों का अनुकरण अवश्य ही सभी प्राणियों को आरोग्यता व स्वस्थ जीवन प्रदान करेगा। ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त अनेक विधियों का प्रयोग व परीक्षण भी शोध का विषय हो सकता है। चिकित्सा जगत् व संस्कृत वाङ्मय के शोधार्थी इस पर शोध कर अमूल्य ज्ञान–निधि का संरक्षण व जगत् को रोग मुक्त करने में अहम भूमिका निभा सकते हैं। यही इस ग्रन्थ की उपयोगिता व इसका महत्व है।

संदर्भ

1. शिवं हरिं विधातारं तत्पत्नीस्ततसूतान्गुरून्।
   नत्वा समस्तप्रत्यूहशान्तये मङ्गलाय च।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 01
2. दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
   पुरुषः संव्यवहरन्सदा तिष्ठति नान्यथा।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 45
3. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
   प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 45
4. ब्राह्मे मूहूर्ते बुद्ध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
   तत्रा सविधिशान्त्यर्थं स्मरेच्च मधुशूदनम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 46
5. आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम्।
   तदत्राकूजनाध्मानोदरगौरववारणम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 46
6. आटोपशूलौ परिकर्टिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
   पुरीषमास्याथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 46
7. प्रक्षालनं च पाण्योश्च पादयोः शुद्धिकारणम्।
   मलप्रमहरं वृण्यं चक्षुष्यं राक्षसापहम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 46
8. अर्कन्यग्राधखदिरकरञ्जककुभादिकम्।
   प्रागुदङ्मुखमासीनो निश्चलो मौनवानपि।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 46
9. भक्षयेद्दन्तधवनं द्वादशागुलमायतम्।
   कनिष्ठिकावत्स्थूलं च मृद्वग्रन्थि तथाऽग्रणम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 47
10. शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पानक्लमान्वितः।
    अर्दिती कर्णशूली च नेत्ररोगी नवज्वरी।।
    वर्जयेद्दन्तकाष्ठं तु हृदामययुतोपि च। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 47
11. मुखप्रक्षालनं शीतपयसा रक्तपित्तजित्।
    मुखस्य पिण्डकाशोषनीलिकाव्यङ्गनाशनम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 48
12. कुर्याद्वापि कदुष्णेन पयसाऽऽस्यविशोधनम्।

कफवातहरं स्निग्धं मुखशोषविनाशनम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 48

13. पञ्चरात्राान्नरवश्मजुकेशरोमाणि कर्तयेत्।
केशश्मश्रुनरवादीनां कर्तव्यं संप्रसाधनम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 49
14. केशपाशे प्रकुर्वीत प्रसाधन्या प्रसाधनम्।
केशप्रसाधनं केश्यं रजोजन्तुमलापहम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 49
15. लाघवं कर्मसामर्थ्यं विभक्तघनगात्रता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते।।
व्यायामदृढ़गाास्य व्याध्र्निास्ति कदाचन।
विरुद्धं वाऽविपक्वं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 49
भुक्तवाकृतसंभोगः कासी श्वासी कृशः क्षयी।
रक्तपित्ती क्षती शोषी न तं कुर्यात्कदाचन।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 49
16. दीपनं वृष्यमारुष्यं स्नानमोजोबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मनुत्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 51
17. बाह्यैश्च सेकै, शीताद्यैरुष्माऽन्तर्याति पिडितः।
नरस्य स्नातमात्रस्य दीप्यते तेन पावकः।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 51
18. भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्।
अग्निसंदीपकं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोध्नम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 55
19. फलान्यादौ समश्नीयाद्दाडिमादीनि बुद्धिमान्।
विना मोचफलं तद्वद्वर्जनीया च कर्कटी।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 56
20. प्रियालजम्बूबदरीफलानि गाङ्गेरिकोदुम्बरतित्तिडीकम्।
तालीफलं नागरनारिकेलसारं च भक्ष्यं तिलमिश्रमाम्रम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 56
21. दिवास्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कपफावहः।
ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वापो निषिध्यते।।
उचितो हि दिवास्वापो नित्यं तेषां शारीरिणाम्।
वातादयः प्रकुप्यन्ति येवामस्वपतां दिवा। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 62
22. व्यायामप्रमदाध्ववाहनरतान्क्लान्तानतीसारिणः।
शूलश्वासवतस्तृषापरिगतान्हिक्कामरुत्पीडितान्।।
क्षीणान्क्षीणकफाञ्शिशून्मदहतान्वृद्धानुसाजीर्णिनो।
रात्रौ जागरितान्नरान्निरशनान्कामं दिवा स्वापयेत्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 63
23. शयनं पित्तनाशाय वातनाशाय मर्दनम्।
वमनं कफनाशाय ज्वरनाशाय लङ्घनम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 63
24. एतानि पञ्च कर्माणि संध्यायां वर्जयेद्बुधः।
आहारं मैथुनं निद्रा संपाठं गतिमध्वनि।।
भोजनाज्जायते व्याध्मिैथुनाद्गर्भवैकटम्।
निद्रायां निःस्वता पाठादायुर्हानिर्गतेर्भयम्।। ;यो.र.ऋ पृष्ठ 66